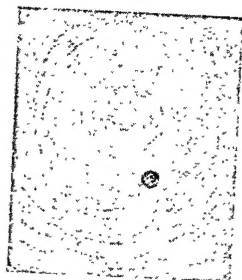


भूमा

•

मुनि रूपचन्द्र

प्रकाशक :
चैनरूप नौलखा
१६, बोन फील्ड लेन
कलकत्ता-१

चैनरूप सुरेश कुमार नौलखा
विराटनगर-१ (नेपाल)

प्राप्ति - स्थान :
आदर्श साहित्य संघ
चुरू (राजस्थान)
साहित्य संस्थान
टाडगढ़ (जि. अजमेर, राज०)

मूल्य : ५.००

मुद्रक :
मातादीन ढंढारिया
नेशनल प्रिंट आर्ट्स
कलकत्ता-७३
फोन : ३४-७३२२

प्रकाशकीय

मुनि श्री रूपचंद्र हिन्दी के आधुनिक कवियों में अन्यतम स्थान रखते हैं। आपके काव्य में वर्तमान जीवन-बोध के समानांतर अस्तित्व के चिरंतन मूल्यों की संचेतना सर्वत्र विद्यमान रहती है। एक अध्यातम-चेता साधक एवं युग-प्रबोधक कवि के रूप में जीवन की दोनो भूमिकाओं पर वे अप्रतिम उपलब्धियो के अधिकारी हैं। हिन्दी में आपके अब तक अनेक काव्य-संकलन प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें से अनेक बंगाली, कन्नड़, तामिल, आदि भाषाओं में अनूदित हुए हैं और प्रान्तीय भाषाओं के काव्य-जगत में उनको सर्वत्र विशिष्ट स्थान मिला है।

प्रस्तुत काव्य-संकलन में मुनि श्री रूपचन्द्र की अद्यतन श्रेष्ठतम कविताएं पूर्व प्रकाशित कृतियों 'अन्धा चांद' 'कला अकला', 'अर्द्ध-विराम' तथा 'भीड़ भरी आंखें' मे से चयित हैं। आशा है यह कृति उनकी काव्य-साधना का एक समग्र बिम्ब पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में सफल होगी।

चैनरूप नौलखा

आमुख

द्रष्टा देखता है, कवि उस दृष्टि को साकार कर उनको भी दिखाता है जो उसे नहीं देख पा रहे हैं। अतः द्रष्टा स्व को आंख है, कवि सर्व को। इसी में कवि कर्म की अर्थवत्ता निहित है।

कवि सृष्टा है। दृष्टि स्थिरता है, सृष्टि गतिशीलता। दृष्टि निरपेक्ष है, सृष्टि सर्व-सापेक्ष। सर्वथा निरपेक्ष एवं सर्वतः सापेक्ष किसी एक बिंदु पर मिल कर एक हो हो जाते हैं। यहीं हर साधक अपने को कवि, हर कवि अपने को साधक पाता है। यहीं हर दृष्टि से सृष्टि अंकुरित होती है, हर सृष्टि में दृष्टि साकार होती है। अन्तर की पूर्णता का यह बिंदु ही भूमा है।

गत कुछ वर्षों मे प्रकाशित मेरी कविताओं के चार संकलनों से चयित प्रतिनिधि काव्य का यह संकलन सुधी पाठकों के समक्ष है। इस पर मंतव्य देने का अधिकार उनका है। मेरी सार्थकता तो मेरे सृजन के क्षणों में ही सन्निहित है। विज्ञ समीक्षकों एवं सुधी पाठकों के रचनात्मक सुझावों का स्वागत है।

—मुनि रूपचंद्र



मुनि श्री रूपचंद्र

प्रस्थानिका

मुनि रूपचंद्र तेरापंथ धर्म संघ के प्रसिद्ध मुनि और चिंतक हैं जिन्होंने जीवन की समस्त स्पृहाओं का त्याग कर साधना और तपश्चर्या का मार्ग अपनाते हुए उन भूमिकाओं की उपलब्धि की है जो एक दार्शनिक, कवि और योगी की सहज साधना कही जा सकती है। तरुण होते हुए भी उनकी अनुभूतियां जितनी प्रौढ़ हैं उतनी ही परिपक्व और अपनी प्रवहमानता में विकासोन्मुख। प्रत्येक साधक जीवन की अन्तर्बाह्य उर्जा का सम्यक संयोजन कर साधना राज्य में प्रवेश करता है और विकल्प से परे संकल्प व वितर्क से परे सहज और प्रत्यय ज्ञान की पृष्ठभूमि में उस स्थिति पर पहुंच जाता है जहां उसका रागबोध अपनी अर्थवत्ता में समष्टि चेतना ग्रहण करता हुआ व्यक्तित्व की पूर्ण इयत्ता और अस्मिता का प्रमाण बनता है। यही मधुमती भूमिका है और है राग और बुद्धि का पूर्ण समन्वय और एकीकृत रूप। भारतीय चिंताधारा में ऋषि और मुनि को इसीलिए कवि की संज्ञा से अभिहित किया गया है। ऋग्वेद की ऋचाएं इसका प्रमाण हैं। भारतीय मान्यता के अनुसार अनृषि कवि नहीं होता, कारण वह भी एक स्रष्टा और नियामक है। प्रजापति की पंचभूतात्मक सृष्टि से भिन्न उसकी भाव चेतना अपने सृजन में जिस विराट तत्व को रूपायित करती है वह देश, व्यक्ति और काल की विविधता और द्वैतता से परे समग्र मानवीय चेतना को आकलित करते हुए जीवन के विकास की उच्चतर भूमिका उद्घाटित करती है। इसी से दर्शन, साधना और चिंतन की अंतिम स्थिति काव्य है। दर्शन और काव्य का यह समन्वित रूप व्यक्तित्व की पूर्णता का कारण बनता है। मुनि रूपचंद्र भी ऐसे ही कवि हैं। मैंने उनकी कविताएं सुनी और पढ़ी हैं। इन कविताओं की प्रकृत पर परिपुष्ट संवेदनाएं कवि की रचना-प्रक्रिया को व्यापकता देती हुई उसे 'धरती की गंध' से 'सुवासित' रखती हैं। कवि-कर्म केवल वैयक्तिक भावावेश या भावाभिव्यक्ति नहीं होता। उसकी रचनाशीलता मानवीय धर्म और जीवन प्रक्रिया की संश्लिष्टता प्रस्तुत करती है और इसी में उसकी सनातनता विद्यमान है। मुनि रूपचंद्र के कवि की अनुभूति न तो आरोपित है और न अभिव्यक्ति खंडित। उसकी संप्रेषणीयता अनुभूति और अभिव्यक्ति की अभिन्नता पर आधृत होकर आत्मोपकथन का ही मुखरित या वैखरी रूप है। उनकी कविता इसीलिए शब्द से अधिक अर्थ का उपक्रम है—ऐसा उपक्रम जिसमें शब्द और अर्थ का सहित तत्व साम्यंदाम्प्य में एक ओर विशिष्ट तो है दूसरी ओर अपने भावबोध में अत्यन्त जीवंत और सार्थक।

प्रस्तुत पुस्तक 'भूमा' उनकी कविताओं का प्रतिनिधि संकलन है, जिसकी अनेक कविताएं 'अंधा चांद', 'कला अकला', 'अर्द्ध-विराम' और 'भीड़ भरी आंखें' में प्रकाशित हो चुकी हैं। भूमा बहुत्व का सूचक है, विराट तत्व का। भूमा तत्व भारतीय दर्शन का निचोड़ है। भूमा का अभाव दुःख का कारण है क्योंकि अल्पता ही दुःख है (नाल्पे सुखमस्तु)। अवकाशात्मक आकाश स्व-स्वरूप से 'शून्य' है तब भी 'पूर्ण' है। किसी बिंदु पर पहुंच कर स्वरूप-हीनता ही 'पूर्णता' बन जाती है। इसी से कहा गया है—'यत्शून्यं तत्संपूर्णम्'। सम्पूर्ण विसर्जन ही अन्यतम और अनंत अर्जन का कारण बनता है। यही योग-साधना का रहस्य है। शब्द, अर्थ और ज्ञान की पृथक् प्रतीति वितर्क है, जिसका अतिक्रमण कर योगी पूर्व-उल्लिखित मधुमती भूमिका में पहुच जाता है। कवि की रचना-प्रक्रिया भी इसीके समानान्तर चलती है। वह वितर्क की, शब्द, अर्थ और ज्ञान की पृथक् प्रतीति से परे सर्वत्र शुद्ध, समग्र और सह अस्तित्व का बोध प्राप्त करता है। इसे हम व्यष्टि चेतना की समष्टि चेतना में परिणति कह सकते हैं। यह समष्टि चेतना ही उसका प्रयोजन है। अस्तित्व सत् का रूप है और बोध उसकी चित्तवृत्ति का। सत् और चित् का यह समन्वित तत्व ही रसात्मक आनन्द है जिसमें द्वैत का अभाव रहता है। यही भूमा तत्व है, परम सुख (नाल्पे वय सुखमस्ति भूमैव सुखम्)। इसी को 'विराट पुरुष' भी कहा गया है। छांदोग्योपनिषद में इसी भूमा सुख की उपलब्धि के लिए सनत्कुमार नारद को प्रेरित करते हैं और इसी की व्याख्या शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र में की है। भूमा निषेधमूलक एवं अभावग्रस्त अपूर्णता का द्योतक नहीं है। वह सार्थक सम्पूर्णता का प्रमाण है। यहां नास्ति अस्ति में परिणत हो जाती है, और सत्ता का केंद्र-बिंदु बृहत्तम और अनंत वृत्त शक्ति-संयुत बन जाता है। मुनि रूपचंद का कवि अपनी सृजनात्मक प्रक्रिया में ऐसा ही केंद्र-बिंदु बनना चाहता है। समस्त बंधनों से मुक्ति की आकांक्षा जीवन की पूर्णता की आकांक्षा है। इसी से वे कहते हैं—

मैं हर बार अपने को नकारता रहा हूँ
लोग सोचते हैं
मैं कैद होता जा रहा हूँ
मुझे लगता है
मैं मुक्त होता जा रहा हूँ!

अपने को नकारना अस्तित्व-हीनता का प्रमाण नहीं होता। वह अन्तर्भूत आत्म-स्वीकृति का कारण बनता है। अहं और इदं का ऐक्य सोहं की प्रस्तुति है। भूमा में संकलित अनेक कविताएं इस प्रस्तुति को स्पष्ट करती हैं—

> लेकिन तुमने जब कहा—
> लहरों और रंगों में ही तुम खोए हो
> जल और आकाश को तुम क्या जानो,
> रूप को ही देखने वाले, अरूप को क्या पहचानो,
> तब से मेरी सत्ता डगमगा गई है!

भूमा का कवि जाग्रत जिजीविषा का कवि है, पर उसकी जिजीविषा भौतिक एषणाओं से समावृत न होकर जिस सम्यक्त्व की ओर अभिप्रेरित और प्राणवान शक्ति से अनुप्राणित है वह है आत्मोपलब्धि की खोज। यही उसके रहस्य चिंतन की मूल प्रक्रिया है। कवि इसी चिंतन प्रक्रिया के मध्य अपनी अनुभूतियां बटोर कर संजोता है और उन्हें प्रकृत भावभूमि पर प्रतिष्ठित कर सशक्त और सार्थक दृष्टि से मानवीय उत्कर्ष तक ले जाने की चेष्टा करता है। यही कारण है कि परंपरागत साधनात्मक या भावात्मक रहस्यवाद से या मध्ययुगीन ईसाई करुणामूलक संचेतनशील प्रकृत रहस्यात्मक चिंतन से भिन्न मुनि रूपचंद्र मानवतावादी रहस्यानुभूति के उद्घाटक और उद्योक्ता हैं। उनकी आस्था न तो विकृत है और न पराभूत। कवि अपने गीतों से प्यार ही नहीं करता वरन् उन्हें अपना 'संसार' समझता है तथा धरती की हर गूंज को अपनी आवाज गिनता है, जिसे कहीं से भी सुना और देखा जा सकता है। वह जानता है कि छिपकली पतंगों को निगल सकती है पर प्रकाश को नहीं और उसका विश्वास है कि पतंग से अधिक प्रकाश की दीप्ति महत्वपूर्ण है। मुनि श्री ने अपनी अनेक कविताओं में रागात्मक और संवेदनात्मक सांसें भर दी हैं जिनसे खोखले बांस और सपनों में भी निरंतर रस-सृष्टि होती रहे। यह रस-सृष्टि ही आनंद का वह अक्षय स्रोत है जो सत् और चित की समन्वित शक्ति से जीवन की सिद्धशिला बनता है। मुनि रूपचंद्र मिथ्या और आरोपित भावनाओं के कवि नहीं हैं और न उसके ऊहापोह में उनकी रागात्मक चेतना कुंठित और

संकुचित हुई है। प्रकृति के विराट और व्यापक स्वरूप का विविध रूपेण अवलोकन कर उनका संचेतनशील कर्तृत्व अपनी क्रियमाणता खोजता है और आत्मानुभूति की गहराई में उतर कर वह रूप और अरूप की अव्यवहित, अनावृत पर स्वच्छंद और निर्बन्ध गतिशीलता देखता है जहां—

'हाथ से हाथ छू जाए
सांस सांस से टकरा जाए
फिर भी एक-दूसरे को छू नहीं पाएं
मन ही मन अवश्य कुछ गुनगुनाएं
पर इतने सजग कि
अधर कहीं खुल नहीं जाएं।'

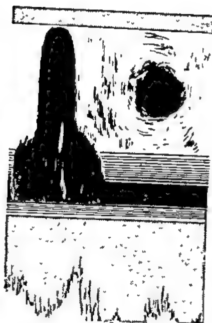
'अर्द्ध-विराम की 'निराकार कल्पना' 'असहयोग' और 'अंधा चांद' की 'झरोखे में बैठा उदास कबूतर' कवि के नये और यथार्थ भाव-बोध को स्पष्ट करते हैं। इन कविताओं में उसका अन्तर्मन इतिहास में डूबे मिथकों और रूपकों को खोजता हुआ जीवन की अर्थवत्ता का संधान करता है।

विविध रंगों से रंजित, विभिन्न रूपों से मंडित और विशिष्ट तूलिकाओं से अंकित 'भूमा' का कवि व्यापक अनुभूति और सार्थक अभिव्यक्ति का कवि है, जिसका रचनात्मक धरातल और कर्तृत्व एक ओर मानवीय उर्जा का धनी है तो दूसरी ओर सक्षम भावनाओं का। सम्यक्त्व की ओर बढ़ता हुआ इस मुनि कवि का काव्य अपनी अर्थवत्ता को अभीप्सित परिणति दे— यही मेरी मंगल कामना है।

यस्य सर्व आत्मैवाभूत तत्र को मोहः
कः शोकः एकत्वं अनुपश्यतः
भूमा एव सुखम्।

कलकत्ता:
२१-१-१९७६

कल्याणमल लोढ़ा
आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय



अंधा चांद

प्रथम प्रकाशन : १६६५

१

श्रद्धा की इन गायों को
कुंठा के खूंटे से मत बांधो,
भटकने दो
टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों में
चरने दो खुले चरागाहो में;
सांझ होते-होते
ये स्वयं ले लेंगी—
घर का रास्ता !

२

धान के दानों का प्रलोभन देकर
मैंने उस कबूतरी को वहां से उड़ाना चाहा,
जो अपने अण्डों को
ममता का सेंक दे रही थी;
पर उसकी पलकों के
उस एक निमेष ने ही मुझको परास्त कर दिया,
जिसने कि मुझको समझाया
कि यों शरीर की तृप्ति के लिए
कहीं अपने आत्मीय को दूर—अरक्षित नहीं छोड़ा जा सकता;
शरीर का शरीर से बन्धन
तो आखिर कब तक निभता है, टूट ही जाता है
पर आत्मा का आत्मा से भी एक बन्धन होता है
जिसके लिए लाख कोशिश की जाय
फिर भी कभी तोड़ा नहीं जा सकता !

३

कभी गीतों से ही प्यार था
बस, वही मेरा संसार था
लेकिन आज धरती की हर गूंज मेरी आवाज है,
जिसको कि कहीं से भी सुना जा सकता है;
और मेरे रूप का यह अन्दाज है
कि कहीं से भी देखी जा सकती हैं उसकी तसवीरें;
फिर मुझे कोई गुमराह कर सके यह कब सम्भव है
छिपकली पतंगों को निगल सकती है
पर प्रकाश को भी निगल जाये, यह असम्भव है
बस मेरी दीप-शिखा को अविराम जलने दो
और तिमिर की सूनी गोद को फिर किलकारी से भरने दो।

४

झरोखे में बैठा उदास कबूतर
भीगी पलकों से
कभी बाहर झांकता है, कभी भीतर झांकता है।
वह देख रहा है
भीतर की दुनिया उजाड़ दी गयी है
अब यह महल खण्डहर है, सुनसान है;
और बाहर की दुनिया बस-बस कर भी उजड़ रही है
क्योंकि नींव खोखली है और आदमी बेजान है;
पुराना मकान ढह रहा है, नया बन नहीं रहा है,
इसलिए इन दो खम्भों के बीच
लटकते हुए तारों पर ही अपनी जिन्दगी बिताने को
वह कभी इधर झांकता है, कभी उधर झांकता है।
वह सोच रहा है
आदमियत वह चीज है
जो उजड़े हुए को बसाना जानती है,
और जो रास्ता भूलकर भटक गये हैं
उन्हें सीधी-सी पगडण्डी बताना अपना फर्ज मानती है;
लेकिन आज जो आदमी है
वह आदमियत नहीं चाहता;
खुद तो उजड़ा हुआ है ही

ग्रौरों को बसता हुग्रा भी देखना नहीं चाहता।
धरती खिसकती जा रही है, ग्राकाश भागा जा रहा है,
वह बेचारा सहारे की टोह में
कभी नीचे झांकता है, कभी ऊपर झांकता है।
शायद वह ग्रपने नभलोक को छोड़कर
ग्राज मन ही मन पछता रहा है,
ग्रौर इस ग्रादम की डरावनी शक्लें देखकर
ग्रपना घायल शरीर ढीला किये सुस्ता रहा है,
पर वह उड़ नहीं सकता, क्योंकि यह मनुष्य-लोक है;
यहां वे पांखें तोड़ दी जाती हैं
जो उड़ने की कोशिश किया करती हैं,
ग्रौर वे ग्रांखें फोड़ दी जाती हैं
जो इस घरौंदे की सीमा को लांघकर
बढ़ने की कोशिश किया करती हैं,
इसलिए वह लाचार
कभी ग्रांखें मूंदकर झांकता है, कभी खोलकर झांकता है।

५

लहरीले पानी में तुम्हारा झिलमिलाता चेहरा !
जो कि जितना ऊँचा आकाश में ठहरा
उतना ही नीचा पानी में गहरा,
किन्तु मैं अभागा
न उस ऊँचाई तक जा सकता हूँ
और न तुम्हारी गहराई को पा सकता हूँ
तो फिर तुम्हें यहीं से प्रणाम कर लूं ?
युगों-युगो से तरसती इन पुतलियों मे
तुम्हारा बिम्ब यहीं से भर लूं ?

६

पूनम की रात
सपनों की नीली घाटी पर
मुसकराते हुए अन्धे चांद ने
धरती को आलोकित करने का दम्भ अवश्य किया
किन्तु वह अपना अन्धापन दूर न कर सका।
तभी एक दिन सुना
कि अमावस ने उसकी मुसकान को निगल लिया।

जब बीत गयी बरसात
सपनों की नीली झाड़ियों के बीच
बेचैन लेटा प्यासा सरोवर
जीवन-भर देता रहा शीतल जल
थके-मांदे, व्याकुल पंछी-कुल को,
किन्तु वह अपनी प्यास दूर न कर सका।
तभी एक दिन सुना
कि उसका दिल दरारों में छिटक-छिटककर टूट गया।

फिर उस शारदी पूनम के दिन सब ने देखा,
कि अन्धा चांद
सरोवर के उजले जल में झांक रहा है
और सरोवर उस चांदनी के उजाले में
अपनी प्यास की गहराई आंक रहा है!

७

खोखले बांस में
एक रागात्मक फूंक भर दो
वही गीत बन जायेगा;
खोखली माटी में
एक संवेदनात्मक सांस भर दो
वही दीप बन जायेगा;
खोखले सपनों में
एक स्पर्धा का भाव भर दो
वही हार और जीत बन जायेगा;
और सृष्टि के इसी खोखलेपन में से
जीवन के अमित रस को झरने दो निरन्तर,
सचमुच वही रसमय वर्तमान
भावी सन्तान के लिए
सुनहला अतीत बन जायेगा।

८

सखे !
जीवन के बहुत-बहुत लम्बे वाक्य पर
तुमने जो पूर्ण-विराम (।) लगाना चाहा
उसके लिए बहुत-बहुत धन्यवाद ।
लेकिन नहीं सोचा तुमने
कि मेरा वाक्य
केवल शब्दों के डण्ठल ही नहीं बटोर रहा है,
पर वे अर्थ-भरे बीज सिमटे हैं उसमें
जो कहीं भी गिर जायें
वहां की धरती को सरसब्ज बनाने की क्षमता रखते हैं !

६

हाथ का बिस्किट
छीन लिया जाये
दर्द नहीं;
फूल बनने को आतुर
कली को बीन लिया जाये
दर्द नहीं;
लेकिन होठों के बीच दबे बिस्किट के
निगलने पर पहरा!
फूल के द्वार पर खड़ी कली के
खिलने पर पहरा!
कितना दर्द!
सहा जा सकेगा?

१०

आग में तपे खरे सोने-सा
तुम्हारा जीवन,
इतना अनाविल, पवित्र और दीप्तिमय
कि व्यवहार की खाद का उसमें मिश्रण नहीं हो सका;
बस, यही कमी रह गयी थी
कि जिसके कारण
तुम किसी सौन्दर्य के कानों का कुण्डल न बन सके;
सत्य हमारा आदर्श हो सकता है
पर उसकी नग्नता निभायी नहीं जा सकती,
आखिर संसार में संसार के रूप में ही जिया जा सकता है;
जिसके लिए रसना विवश है
उसे केवल आंखों से ही पिया जा सकता है;
फिर भी सामंजस्य की कोशिश की जाती है
सोने और खाद के बीच में,
तुम्हारे और व्यवहार के बीचमें,
अच्छा है, इससे भी यदि किसी की लाज बच जाये!

११

जिन्दगी की मनहूस आवाजें
मौत से भी ज्यादा भयंकर होती हैं।

मौत का तकाजा है
कि उसका पैगाम सुनकर
यह प्राणों का पंछी बिना छटपटाये, स्वयं चला जाये
और जिन्दगी का तकाजा है
कि उसका हर अरमान इस आदम को
जीवित लाश को सुलगा-सुलगाकर जला जाये
धुओं के बादलों में सुलगती हुई आग
धधकते हुए अंगारों से ज्यादा भयंकर होती है!

खण्डहर का पत्थर गा रहा है
कि दिन-भर के श्रम से थका हुआ
कोई पौरुष चुपचाप यहाँ सो रहा है
और महलों से कोई स्वर आ रहा है
कि रात-दिन के विलास से ऊबा हुआ
कोई पौरुष सिसक-सिसककर यहाँ रो रहा है
शायद, सिसकती हुई अमीरी की आहें
गरीबी की अनब्याही चाहों से ज्यादा भयंकर होती हैं।

पर यह आदमी भी बड़ा अजीब है
जो कि बिना जरूरत यों जिये ही जा रहा है
और विष-भरे समन्दर को होठों पर लगाये
शंकर बनने की धुन में उसे पिये ही जा रहा है
पर उसे नहीं मालूम
कि तिनकों की ओट में छिपी हुई सर्पिणी
गले में लिपटे सांप से ज्यादा भयंकर होती है।

१२

धरती का लाडला
स्वर्ग के देवता का बलिदान चाहता है।

उसकी अशान्त ज्वाला में अपना सब कुछ होम कर
और तो क्या, अपनी जिन्दगी को भी वीरान बनाया
उसकी खोखली जड़ों में अपना खून सींच-सींच कर
दुनिया की आंखों में उसे भगवान् बनाया
पर आज वह वरदान रूप में
और कुछ भी नहीं, केवल इन्सान का सम्मान चाहता है।

उसे नहीं चाहिए वह देवत्व
जिसमें स्वच्छन्दता हो, विलास हो
और पूज्यता के नाम पर मानवता का उपहास हो
किन्तु सन्देहों की स्याही से पुता हुआ
और उसकी अरथी के नीचे
एक मासूम शिशु की तरह जुता हुआ
वह उससे केवल एहसान की पहचान चाहता है।

उसने देख लिया
कि धरती क्या है और आसमान क्या है?

श्रौर उसने जान लिया
कि इन्सान क्या है श्रौर भगवान् क्या है ?
धरती: राख में लिपटा हुश्रा वह श्रंगारा है
जिसने कि इस चांद श्रौर सूरज को जलना सिखाया है,
इन्सान : वह बैसाखी या कि वह सहारा है
जिसने कि भगवान् को चलना सिखाया है
श्राज वह विनम्र किन्तु अधिकारपूर्वक
श्रपने नंगे प्रश्नों पर समाधान का परिधान चाहता है ।

१

इन्द्र-धनुषी रंगों में से झांकता हुआ तुम्हारा चेहरा,
क्या उतना ही स्थिर है
जितना कि रंग-बिरंगा यह इन्द्र-धनुष ?
मुझे तो लगा, तुम नहीं हो,
केवल रंग पर रंग सवार है !

लहरों पर तैरती हुई बतकों के बीच
जब तुमने मेरी ओर देखा,
मैं कहां सम्हल पाया था तब भी
यों ही समझा, लहर पर लहर सवार है !

लेकिन तुमने जब कहा—
लहरों और रंगों में ही तुम खोए हो,
जल और आकाश को तुम क्या जानो ?
रूप को ही देखने वाले, अरूप को क्या पहचानो,
सच कहता हूँ, तब से मेरी सत्ता डगमगा गई है।

२

अब यहां कैक्टस है
कल तक यहां थे—
गुलाब, चमेली, सदाबहार—
दिन-भर चिड़ियां एक से दूसरी डाल पर
फुदकती रहती,
दिन-भर पड़ोस के बच्चे
फूलों को नोंचते रहते,
दिन-भर चीं-चीं-चीं फर फर्रर-फर्रर,
अब केवल गमलों में कैक्टस खड़े हैं
किसी का मन नहीं उनपर बैठने का,
उन्हें छूने का,
हर दिमाग पर भी अब कैक्टस उगेगा ?

३

तुम ?
कि मेरे सामने का जो
सर्वथा अव्यवहित, अनावृत, स्फटिक-स्पष्ट
और नए परिचय की आंखों में स्वच्छन्द, निर्बन्ध,
इतने निकट कि
हाथ हाथ से छू जाए,
सांस सांस से टकरा जाए,
फिर भी एक-दूसरे को छू नहीं पाएं,
मन-ही-मन अवश्य कुछ गुनगुनाएं,
पर इतने सजग कि
अधर कहीं खुल नहीं जाएं,
और मैंने जाना
टहनी से बंधा हुआ फूल
अपने कोप-अधरों पर क्यों रखता है कुंकुम;
तुम ?
जैसे कि ज्वार उतरता हुआ सागर
सांझ में डूबते हुए सूरज की ओर झांक रहा हो।

४

हमने सब कुछ चीर-फाड़ कर
एक-एक अंग को देखा अत्यन्त सूक्ष्मता से
तो पाया
कि मेढक और आदमी में कोई अन्तर नहीं—
बनावट में,
सोचने के तरीकों मे,
जीने की ममतामयी भावनाओं में,
सिवा इसके कि—
मेढ़क मनोरंजन के लिए आदमी पर पत्थर नहीं फेंकता।

५

माटी ही तो थी—
उर्वरा भी,
पर न मुझे बोया गया,
न सींचा गया,
वर्षा का जल अवश्य मुझ पर गिरा,
जो भी उगना था, उग गया—
आवारा सन्तानें—कंटीली झाड़ियां, आक के पत्ते,
घास-फूस..
इनसे औरों को तकलीफ है,
मुझे भी क्या कम है ?
पर किसी भी रूप में उगती कैसे नहीं ?
माटी जो थी—
उर्वरा भी !

६

एक था अजगर
विशालकाय, दैत्य की तरह मुंह फैलाए,
अनेक झाड़ियों को अपने में समेट
किन्तु बूढ़ा, वीर्य-हीन शक्ति का केवल इतिहास लिए;
मुझे उससे संघर्ष करना था,
किया,
और विश्वास था कि उसके शरीर को चीर डालूंगा
सूखी लकड़ी की तरह
किन्तु नहीं चीर सका।
और वह निगल गया मुझे अपने कूप-उदर में
पर पचा वह भी नहीं सका मुझे,
वृक्षों के तनों से लिपट-लिपट कर
मुझे तोड़ने-मरोड़ने की कोशिश में
एक दिन उसने स्वयं दम तोड़ दिया।
मैं आज भी जिन्दा हूं!
जब तक वह जिया,
मैं उसकी सांसें जीता रहा,
आज उसके क्षत-विक्षत शरीर में से
या पता नहीं कहां से
सांस भर हवा आती है, मैं जी लेता हूं
वह मर गया है, मैं जि····न्दा हूं!

७

बहुत लम्बी दूरी को तय करता आ रहा हूँ मैं।
बीच-बीच में जब थक जाता हूँ,
शराब की घूंट लेता हूँ,
बिना एक सांस रुके
फिर एक लक्ष्य-हीन दिशा की ओर चल पड़ता हूँ।
अनेकों आंखें मुझे एकटक निहार रही हैं,
अनेकों आवाजें मुझे अपनी ओर बुला रही हैं,
मैं मन्त्र-बिद्ध प्रेत-सा
उनकी ओर खिंचता चला जा रहा हूँ निरन्तर,
हर आंख में मेरी आंख का अन्दाज लिए हुए,
हर आवाज में मेरी आवाज का एहसास लिए हुए,
नहीं पता, क्यों मैं इन सब पर विश्वास कर लेता हूँ?
और क्यों चल पड़ता हूँ उनकी ओर?
फिर भी चल पड़ता हूँ,
क्योंकि शराब का नशा मेरी पलकों को भारी किए है,
अरूप से दूर मैं—
कोई रूप मुझे आभारी किए है!

८

अगणित गांवों के अन्तराल में लेटी
यह दीर्घ-तपस्विनी सड़क !
मौन, गंभीर, दुर्धर्ष, अजेय—
सहिष्णुता की पराकाष्ठा,
काश ! जीवन के प्रति हमारी यही आस्था होती !

६

मैं हर बार अपने को नकारता रहा हूँ,
लोग सोचते हैं,
    मैं क़ैद होता जा रहा हूँ
मुझे लगता है—
    मैं मुक्त होता जा रहा हूँ !

१०

सूर्योदय से पहले—
उठते ही सुना कि जीवन-निगम की नवीं मंजिल से
एक पचीस वर्षीय नवयुवक ने कूदकर आत्म-हत्या कर ली।
पिछवाड़े के मैदान में
कल जो लावारिश लाश पड़ी थी,
उसके लिए
रात-भर गली के कुत्ते आपस में
लड़ते-झगड़ते रहे, छीना-झपटी करते रहे।
सामने दूर तक फैली नागिन-सी सड़क पर
कोई बड़ी बेरहमी से बैलों को पीटते-पीटते
गाड़ी को घसीटते चला जा रहा है।
सामने के मोड़ पर टकरा कर चकनाचूर हुई दो बसें
विशालकाय दैत्य की तरह बड़ी डरावनी लग रही हैं।
सर्वत्र एक ही प्रश्न—अपनी अस्मिता का,
उससे भी अधिक, उसे तोड़ने वाली व्यवस्था का,
उससे भी अधिक, उसे तोड़ने वाली विवशता का,
मैं उठकर खिड़कियां बन्द करने दौड़ता हूं,
किन्तु नहीं कर सकूंगा,
खण्डित शीशों के बिखरे टुकड़े मेरे पांव में पैठ गए हैं
देखो तो तुम, एक और दुर्घटना हो गई है!

११

नहीं मालूम,
　　　आज तक क्या जिया !
जो भी जिया—
जिस तरह भी जिया
　　　जी लिया ! !
अनुताप नहीं,
पश्चात्ताप....?
यही कि
कॅंकड़ों और मकड़ियों के बीच ही जिया,
तोष...?
यही कि उनकी तरह नहीं जिया।



नई दिशाएं

प्रथम प्रकाशन : १९६६

१

आसपास गूंजती हुई हजारों आवाजों के बीच
भुला देना चाहता हूँ एक आवाज को
लेकिन लगता है—
हर आवाज में उसी आवाज के कारण एक अर्थ है।

आसपास से गुजरते हुए हजारों चेहरों के बीच
भुला देना चाहता हूँ एक रूप को
लेकिन लगता है—
हर चेहरे मे उसी रूप के कारण एक आकार है।

आसपास की धरती को सरस बनाने वाली हजारों बूंदों के बीच
भुला देना चाहता हूँ एक बूंद को,
लेकिन लगता है—
हर बूंद में उसी बूंद के कारण रस है।

आसपास मुस्कराते हुए हजारों फूलों के बीच
भुला देना चाहता हूँ एक गन्ध को
लेकिन लगता है—
हर फूल में उसी गन्ध के कारण एक मुस्कराहट है।

आसपास गुदगुदाने वाले हजारों स्पर्शों के बीच

भुला देना चाहता हूँ एक स्पर्श को,
लेकिन लगता है—
हर स्पर्श में उसी स्पर्श के कारण एक गुदगुदाहट है।

मैं असमंजस में पड़ जाता हूँ—
क्या मैं किसी का अर्थ,
आकार,
रस,
मुस्कराहट
और गुदगुदाहट छीन सकूँगा ?

२

एक आवाज
जहाँ कहीं खड़े होकर
सुनने लग जाता हूँ मैं,
और लोग समझते हैं—
मैं पिए हुए हूँ !

एक रूप
जहाँ कहीं खड़े होकर
देखने लग जाता हूँ मैं,
और लोग समझते हैं—
मैं नशे में हूँ !

एक बूँद
जहाँ कहीं खड़े होकर
पीने लग जाता हूँ मैं
और लोग समझते हैं—
मैं होश खो चुका हूँ !

एक गन्ध
जहाँ कहीं खड़े होकर
सूंघने लग जाता हूँ मैं,

श्रौर लोग समझते हैं—
मैं कोई सनक में डूबा हूं!

एक स्पर्श
जहां कहीं खड़े होकर
जिसके लिए बांहें पसार देता हूं मैं,
श्रौर लोग समझते हैं—
मैं पागल हूं।

मुझे अफसोस यही है,
अभी तक कहां हो पाया हूं मैं?

३

आज एक और सूरज को
फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया
अभियोग यह था उस पर कि
हमारे रोशनदानों, खिड़कियों और दरवाजों में जबर्दस्ती घुस कर
उसने अशिष्टता का परिचय दिया,
परदों में छिपी हमारी नग्नता को उघाड़ कर
उसने अश्लीलता का परिचय दिया,
हमारी आस्थाओं पर चोट पहुंचाई,
चौराहे पर खड़े होकर
हमारे अनुयायियों को गुमराह करने की कोशिश की,
इसकी बेतुकी हरकतों से
हमारे व्यापार को बहुत नुकसान पहुंचा,
हमारे सम्मान को धक्का लगा,
हमारे स्वाभिमान पर ठेस लगी,
और भी कई अभियोग थे उस पर
कुंआरी संस्कृति को बरगलाने के,
चोरी के, बटमारी के
लेकिन सबसे बड़ा अभियोग यह था कि
उसने अंधेरे को रोशन करने की कोशिश की,
दिन-दहाड़े घरों में, दफ्तरों में,

श्रौर लोग समझते हैं—
मैं कोई सनक में डूबा हूं !

एक स्पर्श
जहां कहीं खड़े होकर
जिसके लिए बांहें पसार देता हूं मैं,
श्रौर लोग समझते हैं—
मैं पागल हूं।

मुझे श्रफसोस यही है,
श्रभी तक कहां हो पाया हूं मैं ?

३

आज एक और सूरज को
फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया
अभियोग यह था उस पर कि
हमारे रोशनदानों, खिड़कियों और दरवाजों में जबर्दस्ती घुस कर
उसने अशिष्टता का परिचय दिया,
परदों में छिपी हमारी नग्नता को उघाड़ कर
उसने अश्लीलता का परिचय दिया,
हमारी आस्थाओं पर चोट पहुंचाई,
चौराहे पर खड़े होकर
हमारे अनुयायियों को गुमराह करने की कोशिश की,
इसकी बेतुकी हरकतों से
हमारे व्यापार को बहुत नुकसान पहुँचा,
हमारे सम्मान को धक्का लगा,
हमारे स्वाभिमान पर ठेस लगी,
और भी कई अभियोग थे उस पर
कुंआरी संस्कृति को बरगलाने के,
चोरी के, बटमारी के
लेकिन सबसे बड़ा अभियोग यह था कि
उसने अंधेरे को रोशन करने की कोशिश की,
दिन-दहाड़े घरों में, दफ्तरों में,

मन्दिरों में, गिरजाघरों में,
गली-गली सड़क-सड़क और चौराहे-चौराहे पर
आग लगाने की कोशिश की,
इन सब अभियोगों के कारण
बिना कोई सुनवाई के
(शायद उसको कुछ कहना भी नहीं था)
एक बड़ी भीड़ के सामने
एक और सूरज को आज
फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया
और लोग कानों ही कानों बतियाते
जहां-तहां घुस गए मकानों में
अंधेरे का फायदा उठाने के लिए !

४

दिन-दिन भर
   रात-रात भर
      आकाश गरजता रहा,
आंधी और तूफान के साथ
      पानी बरसता रहा,
माटी गल-गल कर बह गई
और सड़क रह गई
      केवल नुकीले पत्थरों का ऊबड़-खाबड़ ढांचा।
इस चुभन भरे जीवन का दायित्व
      क्या अब सड़क पर है ?

५

किस ने कहा—
संदर्भहीन है हमारा यह जीवन !
हम तो एक साथ अनेक संदर्भों मे जो रहे हैं
इसलिए संदर्भों से कटकर होने वाली अभिव्यक्ति
हमारी नहीं है,
बिल्कुल नहीं है,

हम जो हैं,
उसके स्वीकार में तनिक भी हमें संकोच नहीं है—
कि हमारे में ज्वालामुखी-सी भभकती हुई एक आग है,
उफनते-गरजते सागर-सा एक तूफान है,
लहरों पर मचलती चांदनी-सा एक उन्माद है,
अभिसार के लिए व्याकुल यौवन-सा अल्हड़पन है,
नुची हुई विकृत लाश-सी भयंकरता है,
मांस नोचते हुए गिद्धों-सी क्रूरता है,
और गहरे-से-गहरे चुभ जाने वाला नुकीले कांच के
टुकड़े-सा हमारे में अहं है,
लेकिन क्या तुमने नहीं देखा,
हमारे में कुछ ऐसा भी है,

जो हमारी मांद के आसपास किसी को घूमते देखकर
गुर्राते हुए भी जल्दी से झपटता नहीं है,

झपट कर भी जल्दी से नोचता नहीं है,
नोचते हुए भी यह सोचता है कि
सहानुभूति के स्वरों में पहले चीखे-चिल्लाए,
फिर किसी को आसपास न देख कर
उसको खाए,

और ऐसा भी कुछ है
कि भार ढोते बैलों पर तीखे चाबुकों का प्रहार देखकर
जिसे यह महसूस होता है कि जैसे
मेरी ही चमड़ी उधड़ती जा रही है
हल खींचते कृशकाय कंकालों को देखकर
जिसे लगता है
मेरी ही अंतड़ियां दुहरी होती जा रही हैं
और कैलेण्डरों की तरह टंगे
खून चूते मांस के लोथड़ों को देखकर
जो छटपटा उठता है कि जैसे
उसका ही मांस काटकर यहां लटका दिया है,
यह हमारा एक-दूसरे के प्रति जो बेलगाव प्यार है,
नहीं चाहते हुए भी एक-दूसरे से उखड़े हुए,
या एक-दूसरे में गड़े हुए जो संस्कार हैं,
उन सबसे कटकर
केवल इस क्षण—
भूत और भविष्य से नकारे हुए क्षण को
हम कैसे जी सकते हैं ?
व्योम-से अस्तित्व पर
सितारों सी हमारी अनन्त-अनन्त अभिव्यक्तियां
इनको संदर्भहीन अस्तित्व की संज्ञा कैसे दे सकते हैं ?

६

उस इतिहास को गढ़ने में
मैं तुम्हारे साथ शरीक नहीं हो सकता,
जिसे तुम थूक से लिखना चाहते हो,
खून से नहीं।
हो सकता है—
तुम्हारी इस यात्रा का भविष्य स्वर्णिम हो,
अलौकिक सुषमा से मंडित हो,
शास्त्रों से समर्थित हो, अ-खण्डित हो,
तुम्हारा स्वागत करने के लिए
इन्द्र के हजार-हजार हाथी आकुल हों,
उन हाथियों के एक-एक दांत पर आठ-आठ वापियां हों,
एक-एक वापी में लाख-लाख कमल हों,
एक-एक कमल में लाख-लाख पंखुड़ियां हों,
और एक-एक पंखुड़ी पर
बत्तीस-बत्तीस प्रकार के नाटक दिखानेवाली
दिव्य अप्सराएं हों,
जिसने स्वर्गीय प्रलोभन देकर
हमारी आस्थाओं को गुमराह करने की कोशिश की है,

अबाध स्वतन्त्रता के नाम पर
बौद्धिक दासता को पनाह देने की कोशिश की है।

और हो सकता है
मेरी यात्रा का अन्त मृत्यु में हो—
सदा-सदा के लिए मर जाने वाली मृत्यु;
लेकिन मैं उन मूल्यों को कैसे नकार सकता हूँ,
जिनको चाहे शास्त्रीय समर्थन नहीं
किन्तु जिन्हें मैंने सांस-सांस खुद जिया है,
अपने प्राणों का अंश देकर
जिनमें प्राण-संचार किया है,
ये पेड़, ये पौधे, ये लताएं
और इनपर महकने वाले ये फूल
जिनकी मुसकान को तुम गुलाबी मुसकान कहते हो,
क्या यह रक्त-रंजित ही नहीं है?
तुम इस मासूम कली को तोड़कर तो देखो,
क्या इसमें मेरा खून ही संचित नहीं है?
फिर यदि मैं सदा-सदा के लिए मर भी जाऊँ,
मुझे इसका रंज किंचित भी नहीं है!

७

क्या करूं मैं ऐसे ज्योतिर्मय सूरज को लेकर,
जो मुझे यह महसूस करने को विवश करे—
मैं अन्धा हूं।
क्या करूं मैं ऐसे अमृतमय चांद को लेकर
जो मुझे यह महसूस करने को विवश करे—
मैं ज्वालामुखी हूं।

क्या करूं मैं ऐसे लहरीले सागर को लेकर
जो मुझे यह महसूस करने को विवश करे—
मैं रेगिस्तान हूं।

क्या करूं मैं ऐसे त्रैकालिक शास्त्रों को लेकर
जो मुझे यह महसूस करने को विवश करे—
मैं बेवकूफ हूं।

क्या करूं मैं ऐसे सर्वशक्तिमान भगवान को लेकर
जो मुझे यह महसूस करने को विवश करे—
मैं पंगु हूं।

मैं तो उस सूरज
उस चांद
उस सागर
उस शास्त्र
और उस भगवान को स्वीकार करता हूँ
जो मेरी ज्योति,
मेरी अमृतता,
मेरी सरसता,
मेरी ज्ञानवत्ता,
मेरी गतिमत्ता और शक्तिमत्ता को
यह कह कर उत्साहित करे कि
हम तो तुम्हारे मात्र विश्वास हैं !

८

एक निराकार कल्पना ने
कितने बेबुनियाद आकारों को जन्म दिया है,
कि सब एक-दूसरे को बदतमीज कहते हैं,
जब कि तमीज का सवाल
ही कहां उठता है यहां ?
रोज एक भीड़ जमा होती है,
रोज कानों को बहरा कर देने वाला एक शोरगुल होता है,
उसके बीच
रोज तेजी से घंटे टनटना उठते हैं
अग्निकुण्ड भभक उठता है भयंकर दैत्य की तरह
और कुछ फूल शहीद हो जाते हैं;

खून से सने हजारों हाथ जुड़ जाते हैं
फिर एक खून की दुआ मांगते हुए
जो उन्हें करना न पड़े, स्वयं हो जाए,
उन्हें तो मांस और रक्त और चमड़ी से मतलब है,
जो उन्हें मिल जाए !

और गुनाहों के भार से दबे हजारों सिर झुक जाते हैं
फिर नये गुनाहों का भार ढोने का सामर्थ्य पाने के लिए,

जो उन्हें करने भी पड़ें,
फिर भी भार महसूस न हो,
उन्हें तो प्रशस्ति-पत्र, विरुदावलियों
और फूल-मालाओं से मतलब है
जो उन्हें मिल जाए !

और खिंची हुई प्रत्यंचा से साष्टांग नम जाते हैं हजारों शरीर
कि उनका फेंका हुआ बाण लक्ष्य-वेध में अचूक हो,
पर जिसकी आवाज नहीं हो,
लक्ष्य में से भी कोई चीख न निकले,
उन्हें तो शिकार से मतलब है, जो उन्हें मिल जाए !

रोज एक कामना होती है,
रोज एक प्रार्थना होती है,
रोज एक अर्चना होती है,
रोज एक आशीर्वाद मिलता है--तथास्तु,
केवल आंखों का साक्ष्य वहां नहीं होता !

९

गोल-गोल   इडली-सा
आ गिरा है हमारे सामने लुभावना दिन,
कि हम इसको खाएं
और अपने पेट की आग बुझाएं,

उजले कागज के टुकड़े-सा
थमा दिया गया है हमारे हाथ में कोरा दिन,
कि इस पर हम कुछ लिखें—
जो चाहे संदर्भहीन भी क्यों न हो
लेकिन आगे आने वाली पीढ़ी की दृष्टि में
हम औरों से भिन्न
चाहे बौने ही दीखें !

साबुन के झाग-सा
फेंक दिया गया है बाथरूम में एक टुकड़ा दिन,
कि उसकी किरणों को शरीर पर मल-मलकर नहाएं,
और अपने भोंड़े शरीर को उजला बनाएं।

टिनोपाल से धुले कपड़े-सा
उछाल दिया गया है एक उजला दिन,

कि उसे पहन कर हम अपने नंगेपन को ढांपे,
अपनी वीभत्सता यदि दूर न भी कर सकें
फिर भी जिसे देखकर कोई सुन्दरता नहीं कांपे।

सहमे-सिकुड़े खरगोश-सा
कोने में दुबक कर बैठा है डरपोक दिन,
कि हम औरों को एक खामोश जीवन जीने दें,
खुद एक खामोश जीवन जिएं,
प्रकृति के रंध्र-रंध्र में से झर-झरकर बहने वाला रस
औरों को पीने दें,
खुद पिएं।

१०

अब हमें इस मकान को तोड़ना ही होगा।
जानता हूँ मैं,
नया मकान नहीं है हमारे पास रहने के लिए,
ठिठुरती सर्दी और बरसात
हमें खुले में ही सहना होगा,
चिलचिलाती धूप में भी
हमें खुले आकाश के नीचे ही रहना होगा,
लेकिन फिर भी हमें इस मकान को तोड़ना ही होगा।
शायद तब हम
नए मकान के प्रति अधिक ईमानदार बन सकेंगे,
उसके लिए अधिक मेहनत और लगन से काम कर सकेंगे,
नहीं तो फिर
इस मकान की ईंट-ईंट से हमारा इतना मोह हो गया है,
इसकी अन्धी सीढ़ियां
सीलन भरे कमरे,
टपकती हुई छतों से भी इतना व्यामोह हो गया है
और उस व्यामोह के कारण
हर दूसरे मकान के प्रति मन में इतना विद्रोह हो गया है
कि हम इसे तोड़ नहीं सकेंगे।
और यह हमें नहीं छोड़ देगे,

उससे पहले हम इसे छोड़ नहीं सकेंगे।
जब हमें लोग
इसके मलबे के ढेर में से निकालेंगे,
तब तक या तो हम मर चुके होंगे
या फिर हम अपना होश खो चुके होंगे,
उस बेहोशी की हालत में भी
हमारा इस मकान पर से प्यार कम नहीं हो जाएगा,
उस मलबे में गड़ा हुआ संस्कार कम नहीं हो जाएगा,
हम फिर नया मकान बनाते समय
उन्हीं सड़ी-गली ईंटों को,
बूढ़े हो गये पत्थरों को
उसकी नींव में भरने की कोशिश करेंगे,
उसी मलबे की दीवार बनाकर
उस पर सीमेंट का पलस्तर करने की कोशिश करेंगे,
इस प्रकार फिर
हम मोह के विषधर को
दूध पिलाने की कोशिश करेंगे,
फिर अपने मुर्दे को
कृत्रिम सांसों से जिलाने की कोशिश करेंगे,
इससे क्या यह अच्छा नहीं,
हम इस झूठे मोह को छोड़ दें?
और तब
जबकि समय आ गया है
इस मकान को अपने ही हाथों तोड़ दें?

११

आज बाजार में सर्वत्र
उस स्वामिभक्त बैल की बड़ी चर्चा थी
जिसने अपने मालिक का भार ढोते हुए
हंसते-हंसते दम तोड़ दिया था,
लोग कह रहे थे—
बड़ा सीधा था बेचारा,
बिना भूख और प्यास की परवाह किए
जो उम्र भर अपने मालिक के इशारे पर दौड़ता रहा
और मरे पशुओं की हड्डियों के ढेर से लेकर
शराब की छलछलाती हुई बोतलें,
अफीम, गांजा....
तस्करी में खरीदी हुई घड़ियां, ट्रांजिस्टर
भगाई हुई लड़कियां....
जो कुछ भी गाड़ी में लादा गया
भौहों में बिना कोई विकार लाए
आंधी और तूफानों की छाती को चीरते हुए
वह उसे मंजिल तक पहुंचाता रहा,
अपने प्राणों को संकट में डालकर भी
कानून के शिकंजों से मालिक को बचाता रहा
लेकिन कभी जुआ उतार फेंकने का

उसने गुनाह नहीं किया
और अपनी आहों को
आंखों और होठों के भीतर ही भीतर पीते हुए
उसने किसी को यह एहसास नहीं होने दिया
कि उसके भीतर भी कोई विद्रोह का
ज्वालामुखी भभक रहा है,
कि उसके भीतर भी कोई तूफान मचल रहा है,
जो इस जर्जर बेड़े को एक ही थपेड़े में ध्वस्त कर देना चाहता है,
अपनी भूखी अंतड़ियों को दुहरी होते देखकर भी
न्याय, सच्चाई और ईमानदारी के मूल्यों को रोते देखकर भी
सदा यह मालिकीय मूल्यों की प्रशंसा करता रहा,
उसकी प्यार भरी थपकी और पुचकार
का बखान करता रहा,
और अहर्निश मंजिलों पर मंजिलें तय करता रहा,
दौड़ता रहा
दम टूटने तक दौड़ता रहा,
और सहानुभूति के स्वरों में
आज उसी बात की चर्चा थी बाजार में—
बड़ा स्वामिभक्त था बेचारा !

१२

अपने सारे कीमती वस्त्र उतार-उतार कर
उसने फेंक दिए कूड़े-कर्कट के ढेर पर
तब से वह नंग-धड़ंग
चक्कर लगाता रहता शहर की चक्करदार गलिय
फालतू कागज, फटे-टूटे कपड़ों को बटोरते
वह जहां भी जाता,
बच्चों की एक बड़ी सेना उसके पीछे हो जाती,
वह उन्हें प्यार-भरी निगाहों से देखता,
बच्चे डर कर भाग जाते ,
और फिर वह सहमा-सहमा
पढ़ने की कोशिश करता रहता
उन बच्चो का कुण्ठा भरा भविष्य,
जिनको एक बड़ी-सी दीवार पर
कीलों और खूंटियों की तरह ठोकने की कोशिश
की जा रही है,
जिनको वातानुकूलित कमरो मे
अभी से ही
पंखों और ट्यूब-लाइट्स की तरह
अपनी मनपसन्द जगहों पर लटकाने की कोशिश
की जा रही है,

भ्रौर जिन्हें आत्महत्या के लिए अभी से विवश किया जा रहा है,
अंतिम सांसें लेती
जिनकी अ-मृत लाशों पर
अभी से कौवे और चील और गीध मंडरा रहे हैं,
और उन लाशों को अपना मांस नोचा जाना पसन्द है
क्योंकि उनमें ठूंस दिया गया है यह विचार
कि इसी में एक स्वर्गीय आनन्द है,
फिर उसे लगता कि
इससे आगे चिन्तन के सब दरवाजे बन्द हैं,

वह फफक-फफक कर रो पड़ता,
उसके आसपास
पढ़े-लिखे समझदार लोगों की
एक अच्छी-खासी भीड़ जमा हो जाती,
तब वह अपने आंसू पीते हुए
हृदय को घृणा और तिरस्कार के साथ
उस भीड़ पर थूकता हुआ,
गालियां देता हुआ
धूल उछालता हुआ
और मन ही मन हंसता हुआ
भाग जाता फिर चक्करदार गलियों में,
फेंक दिए गए फालतू कागजों को बटोरने के लिए,
उनमें लिखा नई पीढ़ी का भविष्य पढ़ने के लिए,
फटे चियड़ों को इकट्ठा कर लाज ढंकने के लिए,
और पीछे से लोग आपस में फुसफुसाते—
बड़ा समझदार आदमी था,
बेचारा पागल हो गया है!

१३

हत्यारा सूरज
पता नहीं,
कितने निरीह प्राणों को
तेज किरणों की मर्मान्तिक चुभन देकर
छोड़ गया है,
रात भर तड़प-तड़प कर सिसकने के लिए,
लहरों ने उसे पकड़ा भी—
रंगे हाथों,
लेकिन कोई भी अखबार फोटो छापने का
साहस नहीं कर सका,
सारे ब्लाक पानी में घुल-घुल कर डूब गए,
दूसरे दिन
अखबारों की बड़ी-बड़ी सुर्खियों में
सूरज के वीरता भरे दास्तान छपे थे !

१४

सचमुच हम
अपने ही साथ लड़-लड़कर टूट गए हैं,
टूट-टूट कर चकनाचूर हो गए है,
दर्पण पर बैठी चिड़िया-से हम
अपनी ही परछाईं को दुश्मन समझ कर
उसपर
अपनी ही चोंच मारने को मजबूर हो गए हैं,
कंटीली दीवारों से घिरी
कारावास की कोठरियों-से हम
अपने से ही दूर हो गए हैं,

भूखे गिद्धों की तरह
अपना ही मांस नोचने में
(जिसको तुम कल्पना तक नहीं कर सकते)
इतने निर्दय-क्रूर हो गए हैं,

क्या पता,
कब तक हमको
यों अपने ही हाथ लड़ना होगा—
कब तक ?

१५

तुम मुझे सवाल के लिए उकसा रहे हो,
किन्तु तुम्हारे पास कोई जवाब भी है ?
मैं पूछता हूं—
लाखों-करोड़ों के पेट की आग बुझाने वाले ये हाथ
दाने-दाने को तरसते हुए
अपने पेट पर पत्थर बांधकर क्यों सो रहे हैं ?
लाखों करोड़ों का नंगापन ढांपने वाले ये हाथ
अपनी लाज ढंकने के लिए
चिथड़े चिथड़े के लिए सिसक सिसक कर क्यों रो रहे हैं ?
लाखों करोड़ों को धूप, आंधी और बरसात से बचाने के लिये
दिन भर ईंट और गारा ढोने वाले ये कंकाल
गंदे नालों के किनारे बनी झुग्गी-झोंपड़ियों
और फुटपाथों पर ही जिन्दगी क्यों काट रहे हैं ?
और इस शस्य-श्यामला धरती के अन्न-देवता
स्वयं अपनी भूख मिटाने के लिए
फेंकी हुई जूठी पत्तलें ही क्यों चाट रहे हैं ?
क्या हम झूठी मान्यताओं के किलों को
आज तक भी तोड़ सके हैं ?
समाजवादी मूल्यों का ढोल पीटते हुए भी,
साम्राज्यवादी मूल्यों को छोड़ सके हैं ?
वही सामन्तशाही, वही बुर्जुआपन,

धर्म और पुण्य के नाम पर बढ़ावा पाने वाला भिखमंगापन,
हजारों-हजारों कंधों पर बैठ कर
निकलने वाली भगवान की सवारी,
मजहब के नाम पर
बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी करने की तैयारी,
जाति और भाषा के नाम पर
आदमी से आदमी के दिल में घृणा भरना,
और उसी के आधार पर
हमारे शासन-तन्त्र के प्रासाद को खड़ा करना
काले और गोरे के भेद पर
आदमी का आदमी के खून का प्यासा बनना,
उधर अन्तरिक्ष में उड़ान, इधर यह नारकीयपन
उधर सह-अस्तित्व की बातें, इधर यह जंगलीपन
आजाद शरीर, गुलाम सांसें
पीड़ा, घुटन और आहों को ढोने वाली उसांसें,
चाहे इन सब को हमने नकारा हो,
किन्तु समय पर इनको हमने ही जन्म दिया है,
हंसती अदाओं से सूरज का अभिवादन करने वाली कली को
संस्कार-निर्माण के नाम पर
हमने क्या उम्र भर गम नहीं दिया है ?
इन सब से जान-बूझ आंखें मूंद कर
तुम मुझे सवाल के लिए उकसा रहे हो
लेकिन इनका कोई जवाब भी है ?

१६

मैं नहीं चाहता था
यह पेड़ लगाया जाए,
वह भी नहीं चाहता था
यह पेड़ लगाया जाए,
फिर भी
हम दोनों ने मिलकर इसको लगाया;
नहीं चाहते हुए भी
हम दोनों ने इसे सींचा
पाला-पोसा,

और इसे बड़ा होते देख कर
जो भरकर एक-दूसरे को गालियां दीं,
एक-दूसरे को कोसा।

आज जबकि
यह भूमि में गहरे-से-गहरे
अपनी जड़ें फैला चुका है,
और आकाश के एक बड़े भाग को
अपनी शाखाओं और टहनियों से रोक चुका है,
हम चाहते हैं—

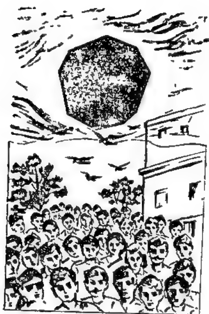
इस पर फूल न आएं,
फल न आएं,
फूलों-फलों पर कोई चोंच न लगाए;
इसके तने को
कठफोड़े, बतोरिये और पवई
अपनी पैनी चोंचों से खोखला न बनाएं,
गीध, बगुले और चीलें
इसपर बदसूरत घोंसले न बनाएं,
बच्चे पत्थर फेंक-फेंककर इसे न सताएं,
और धूप-ताप से बचने के लिए
इसकी छांह में इकट्ठे होकर पड़ोसी
हमारे दुर्दिनों के बारे में न बतियाएं
लेकिन यह सब कुछ अब कैसे सम्भव है ?
कैसे सम्भव है ?

१७

अन्धे गलियारों में
जिनके साथ रोज खेलते थे
उजली सड़कों पर
उनकी सूरत पहचानी नहीं जाती !
यहां तो जाने-पहचाने हैं—
धुम्रां,
कोलाहल,
भीड़,
प्रतिस्पर्धा,
तनाव
और प्रवंचना—
औरों के साथ भी, अपने साथ भी,
क्या हम किसी शहर में आ गए हैं ?

१८

बालू के टीलों पर
घरौंदे बनाते रहे,
भूल दुहराते रहे।
सामने के मैदान में
चीखते हुए मिलों के भोंपुओं से
अनाथ बच्चे-सा कराहता हुआ शहर!
शिकार की टोह में
इधर-उधर भटकते सांप की तरह
रेंगता हुआ शहर!
सभ्यता के नाम पर
चोट खाए गिरगिट-सा
रंग बदलता हुआ शहर!
नीम की छांह तले
पसीना सुखाते रहे,
बालू के टीलों पर घरौंदे बनाते रहे,
क्या सचमुच ही
कोई भूल दुहराते रहे?



भीड़ भरी आंखें

प्रथम प्रकाशन : १९७५



१

उड़ती हुई दिशाओं में
पंख नुचे हुए पंछी
हर बार धोखा दे जाते हैं आंखों को
और हम भी
पागल हो उठते हैं
अपनी पांखें नुचवाने के लिए !

तुम्हीं बताओ
फर्क क्या है आखिर,
एक घर
और बन्दी-घर में
सन्दर्भों के सिवा ?

दिशाएं सत्य हैं
आकाश उससे भी बड़ा सत्य,
किन्तु हमारे लिए
क्या होता है कोई भी सत्य
पांखों से बड़ा ?

२

चौराहे तक आते-आते
ठिठक कर ठहर जाते हैं सभी रास्ते,
सीने पर खंजर रख कर कहा जाता है हमें
उनमें से कोई एक
मनपसन्द रास्ता फिर से चुन लेने के लिए।

जबकि अच्छी तरह से जानते हैं हम
इस चुनने की भाषा में फंसकर
अन्धी गुहाओं से लेकर आन्तरिक्ष-रास्तों तक
आपस में बंटते रहे हैं
किसी एक को चुनते रहे हैं
और कटते रहे हैं शेष सबसे;
(चुनने का नाम ही कटना होता है,
यह हमें कब मालूम था)

और कब मालूम था
रोशनी के नाम पर
अन्धेरे के यों टुकड़े-टुकड़े कर दिए जायेंगे,
खड़े कर दिये जायेंगे पारदर्शी फासले
आंख और पांख के बीच में;

अब आंखें अवश्य हैं हमारे पास
किन्तु उनमें ठहरी हुई रोशनी
अमानत रखी हुई है किसी दूसरे के पास
जिसको छुड़ाने की निष्फल कोशिश में
रखते जा रहे हैं हम
अस्तित्व का खंड-खंड गिरवी।
एक पूरा आकाश गिरा दिया गया है हमारी धरती पर,
हमें फुसलाया जा रहा है यह कहकर
कि कोई फर्क है ही नहीं
रोटी में और आदमी के खून में।

अब हमें साफ-साफ अहसास होने लगा है,
रोशनी की इस साजिश में
कितना सुविधापूर्ण होता है अन्धेरे में जीना !
यह भी छिपा नहीं रह गया है अब
कि हमारी नियति
पान में रखे उस तम्बाकू से अधिक नहीं,
जिसको जीभ पर रखते ही थूक दिया जाता है
पड़ोसी दीवारें रंगने के लिए;

क्रांति का रंग,
लाल चुन लिया गया है !

३

दिन-दिन कम होते जा रहे हैं कुत्ते इस नगर में
भेड़ियों की संख्या बढ़ रही है,
केवल उन्हीं कुत्तों को छोड़ दिया गया है जीने के लिए
जो हो गये हैं पालतू इन भेड़ियों के,
बांध लिया है जिन्होंने गले में पट्टा स्वामि-भक्ति का,
अपने स्वामी के लिए
जो हर समय तैयार रहते हैं—
भौंकने के लिए,
झपटने के लिए,
काट खाने के लिए,
इनके अलावा शेष सब कुत्तों को
आवारा करार दे दिया गया है;
छोड़ दिया गया है उन्हें
नगर से दूर किसी बन्द बाड़े मे
जहर की रोटियां खाकर
तड़प-तड़प कर मर जाने के लिए;
यह शहर ज्यों-ज्यों सभ्य होता जा रहा है,
कम होते जा रहे हैं दिन-दिन कुत्ते,
केवल भेड़ियों की संख्या बढ रही है!

४

मुझ में एक संगीत है,
उसे सुन नहीं पाया,
हाथ में वीणा ले ली।

मुझ में एक रूप है,
उसे देख नहीं पाया,
हाथ में एक फूल ले लिया।

मुझ में आनन्द है,
उसे अनुभव नहीं कर पाया,
झरने के किनारे जाकर बैठ गया।

सर्वत्र एक विपर्यास
क्या कभी टूटेगा यह विरोधाभास ?

५

प्रभु के द्वारे
प्रार्थनाएं करता रहा उम्र भर
पर कोई प्रार्थना नहीं कर सका
अपने को अलग रखकर।
जीवन-रण में
डटकर सामना किया भीड़ का,
पर अपना सामना नहीं कर सका
कभी एकान्त में।

६

जब भी कोई दस्तक होती है
दरवाजे पर,
एक दहशत-सी बैठ जाती है दिल में,
कौन हो सकता है बाहर ?
वह तो नहीं,
जो है मेरे भीतर ?

७

भीतर ही भीतर उमड़ते-घुमड़ते बादलों को
दौड़ने के लिए चाहिए आकाश,
केवल आकाश।
क्या है तुम्हारे पास ?
भीतर ही भीतर उमड़ते-घुमड़ते बादलों को
दौड़ने के लिए चाहिए विश्वास,
केवल विश्वास।
क्या है तुम्हारे पास ?

मैं जानता हूं,
न तुम्हारे पास है आकाश,
न विश्वास,

तुम मेरे हाथ में पकड़ा सकते हो,
केवल एक टुकड़ा इतिहास,
कैसा उपहास !

८

सत्य की हत्या के लिए
जरूरी नहीं
रायफल या तलवार,

इतना ही काफी है
जोर से बोल दें
सत्य की जय-जयकार !

६

लगता है मुझे
दिन-ब-दिन सिकुड़ता जा रहा है यह कमरा,
दीवारें और-और ऊंची होती जा रही हैं
खिड़कियां रोशनदान बन गई हैं,

बन्द दरवाजों की जकड़,
और-और मजबूत होती जा रही है,
हम होते जा रहे हैं दिन-ब-दिन बौने।

उछल-कूद के बाद भी
नहीं देख सकते हम पड़ोसी चेहरों को,
केवल एक-दूसरे की चीख ही,
पहुंच सकती है एक-दूसरे तक।

मैं चीखता हूं जोरों से—
"हम तुम सबसे प्यार करते हैं,
यहां चले आओ।"

उधर से वही ध्वनि आती है,
"हम भी तुम सबसे प्यार करते हैं,
तुम चले आओ।"

मैं फिर चिल्लाता हूं—
"यहां पर खूब रोशनी है,
तुम चले आओ।"

फिर वही उत्तर आता है,
"यहां पर भी खूब रोशनी है,
चले आओ।"

और उसके बाद की चीखें
टूट जाती हैं आपस में टकराकर
कमरा और अन्धा हो जाता है,
दीवारें और रोशन हो जाती हैं।

और हम
रेंगते हुए एक-दूसरे के ऊपर से
घायल होकर गिर पड़ते हैं अपनी ही
लाशों पर !

१०

उड़ने के लिए
अब
पंख ही हो गये हैं बेकार,
किसके लिए फिर यह पिंजड़ा ?
क्यों बन्द यह द्वार ?

११

संघर्ष
　　गति का होता है,
　　　　कभी सीढ़ियों का नहीं।
संघर्ष
　　दृष्टि का होता है
　　　　कभी पीढ़ियों का नहीं।

गति बदल जाय,
　　सीढ़ियां बदलने की जरूरत नहीं।
दृष्टि बदल जाय,
　　पीढ़ियां बदलने की जरूरत नहीं।

१२

हंसते हुए गुलाब को
झूलते हुए देखा जब डाल पर,
प्यार से
टांग लिया उसे शेरवानी में,
थोड़ी ही देर बाद
तोड़-मरोड़ कर
फेंक दिया उसे कचरे के ढेर पर,
क्या ऐसे ही कचरा नहीं बना देते हैं हम
अवसर
प्यार का ?
यों ही तोड़-मरोड़ कर ?

१३

तुम्हारी तस्वीर ने
धोखा अवश्य दिया मुझे
लेकिन
केवल एक बार
तुम तो
जितनी बार मिलते हो,
धोखा देते हो।

१४

तैर जाता है हर बार आंखों में
कोई दूसरा चेहरा,
अपना चेहरा
कहां देख पाई हैं अब तक
ये भीड़ भरी आंखें ?

१५

बाहर का नहीं,
जीता जिन्होंने भीतर का युद्ध,
उनमें से
कोई बन गया महावीर
कोई बुद्ध ।

१६

अर्थ-शून्य अर्थों के बीच खड़े
शून्य को छूते हुए एक अर्थपरक अर्थ।
सत्ता,
शक्ति,
विजय-दर्प के मूल्यों को
स्वीकारात्मक नकार में परिणत करते हुए
तुमने एक नकारात्मक स्वीकार को जन्म दिया,
यह कहना हमारी विवशता ही] है,
तुम्हारी कृति नहीं
तुम्हारे ललाट से चू-चू कर
बूंदें धारा बन गईं,
तुम धारा नहीं बने

तुम्हारे मस्तक को छू-छूकर
समय परम्परा बन गया,
तुम परम्परा नहीं बने।

आज हमें लगता है
तुम्हें बताने वाले सभी अर्थ

हो गये हैं निरर्थक
हम उस एक अर्थ की खोज में
खो गये हैं निर-अर्थों में,
तुम—
एक सम्पूर्ण अर्थ केवल इसलिए हो,
क्योंकि तुम्हारे में से कोई अर्थ निकलता नहीं है।
एक ऐसे महायात्री,
समय चलता है जिसके सहारे
जो स्वयं कभी चलता नहीं है।

१७

भीड़ में लगता है अकेलापन अच्छा,
जब अकेले होते हैं
लगती है भीड़ अच्छी ।

१८

बन्द आंखों में
    तैर आती है चिल्लाती हुई भीड़
        अपने-अपने सवालों का उत्तर मांगते हुए,

सोचता हूं,
    कितनी बेवकूफ है यह भीड़,
        कोई भी सवाल
            क्या प्रतीक्षा करता है कभी
                किसी भी उत्तर की ?

१९

रौंदे जा रहे हैं नीड़
पैरों तले भीड़ के,
जो दौड़ी जा रही है बदहवास
नीड़ की खोज में,
आकाश कितना छोटा हो गया है
बौने आदमी के सामने ?

२०

कुन्नूर—

नीलगिरि को सभ्य व सुसंस्कृत बनाने का
एक प्रयास।

कटावदार घाटियों पर
हरीतिमा बिखेरते हुए चाय के बगीचे,
एक कतार में खड़े कर दिये गये
सजातीय पेड़-पौधे,
व्यवस्थित नालों व नहरों द्वारा
इधर-उधर दौड़ता हुआ जल,
जहां इच्छा हो,
वहीं कोई नहीं उग सकता यहां
जिधर इच्छा हो,
उधर कोई नहीं उठ सकता यहां,
एक सांचे में ढले हुए
एक कतार में उगे हुए
एक कटाव में उठे हुए,
सुरम्य घाटियों में इठलाता हुआ बंदी सौन्दर्य,
किन्तु कहां है प्राणों की गंध ?
सर्वत्र जड़ता का अनुबन्ध।

२१

नीली साड़ी में लिपटी अन्तहीन उपत्यकाओं में घिरा
सामने फैला है दूर-दूर नीलगिरि का जंगल,
हर ओर अपना माथा ऊंचा किए
आकाश से बातें करते
विनत अनाम वृक्ष,

एक दूसरे से सटे हुए
फिर भी एक-दूसरे से निरपेक्ष,
जिसकी जहां इच्छा हुई,
उग गया,
जिसकी जिधर इच्छा हुई,
फैल गया,
जिसने जितना चाहा,
आकाश घेर लिया
अपने फलने-फूलने के लिए
अवकाश हेर लिया,
हर लता—
जहां चाहा, बिखर गयी, सिमट गयी,
जिस किसी पेड़ से मन हुआ,
लिपट गयी,

जहां से दिल हुआ
    पत्थर बहने लगा,
कहीं मौन हो गया,
    कहीं तेज स्वर से कुछ कहने लगा,
किसी को सभ्यता का ज्ञान नहीं,
संस्कृति और परम्परा की पहिचान नहीं,
कण-कण से टपकता हुआ सौंदर्य,
पत्ते-पत्ते से झरता हुआ भोलापन, सौकुमार्य,
क्या जिन्दा रह सकती है
    स्वतन्त्रता
        किसी मॉडल में बंध कर ?





अनुक्रम

